संघ लोक सेवा आयोग (UPSC)

दर्शनशास्त्र (वैकल्पिक विषय)

सामाजिक–राजनीतिक दर्शन

641, प्रथम तल, डॉ. मुखर्जी नगर, दिल्ली-110009
दूरभाष : 011-47532596, 8750187501
टोल फ्री : 1800-121-6260
Web : www.drishtiias.com
E-mail : online@groupdrishti.com

पाठ्यक्रम, नोट्स तथा बैच संबंधी updates निरंतर पाने के लिए निम्नलिखित पेज को "like" करें
www.facebook.com/drishtithevisionfoundation
www.twitter.com/drishtiias

विषय सूची (Contents)

1.	समानता की अवधारणा	5-10
2.	स्वतंत्रता की अवधारणा	11-18
3.	न्याय की अवधारणा	19-33
4.	संप्रभुता की संकल्पना	34-46
5.	शासन के प्रकार	47-52
6.	लोकतंत्र	53-64
7.	व्यक्ति एवं राज्य संबंध	65-70
8.	सामाजिक प्रगति एवं विकास	71-76
9.	लिंग भेद	77-92
10.	उदारवाद	93-97
11.	अराजकतावाद	98-104
12.	समाजवाद	105-112
13.	मार्क्सवाद	113-131
14.	मानववाद	132-150
15.	धर्मनिरपेक्षतावाद	151-164
16.	बहुसंस्कृतिवाद	165-172
17.	अपराध	173-181
18.	दंड के सिद्धांत	182-194
19.	जाति भेद	195-200

Copyright– Drishti The Vision Foundation

समानता की अवधारणा *(Concept of Equality)*

समानता का सही अर्थ समाज के सभी व्यक्तियों को समान अधिकारों की प्राप्ति और विशेषाधिकारों का उन्मुलन है। मानव और मानव में कोई विभेद नहीं होना चाहिये।

समानता का विचार राजनीतिक दर्शन का एक अत्यंत जटिल संप्रत्यय है जिसकी वस्तुनिष्ठ व्याख्या करना प्राय: असंभव है। बार्कर का मत है कि अत्यंत गत्यात्मक होने के कारण समानता के संप्रत्यय की परिभाषा नहीं दी जा सकती है। लास्की ने भी माना है कि संपूर्ण राजनीतिक दर्शन में इससे अधिक पेचीदा कोई संकल्पना नहीं है।

समानता की धारणा के संबंध में विशेष समस्या यह है कि भिन्न-भिन्न विचारधाराओं ने इसकी व्याख्या भिन्न दृष्टिकोणों से की है। इस संदर्भ में मूलत: दो दृष्टिकोण प्रचलित हैं जिन्हें 'नकारात्मक समानता' और 'सकारात्मक समानता' कहते हैं। नकारात्मक समानता के समर्थक लॉक, स्पेंसर और एडम स्मिथ जैसे नकारात्मक उदारवादी और मिल्टन फ्रीडमैन, हेयक तथा नोजिक जैसे स्वेच्छातंत्रवादी विचारक हैं जबकि सकारात्मक समानता के समर्थकों में सकारात्मक उदारवादी चिंतक जैसे लास्की और बार्कर तथा समतावादी दार्शनिक जैसे रॉल्स और मैक्फर्सन आदि शामिल हैं।

नकारात्मक समानता *(Negative Equality)*

नकारात्मक समानता (Negative Equality) की धारणा मूलत: यह है कि समानता का अर्थ 'विषमताओं की अनुपस्थिति' है। दूसरे शब्दों में, सभी व्यक्तियों को औपचारिक रूप से समान अवसर दिया जाना ही नकारात्मक समानता है। यहाँ औपचारिक का अर्थ यह है कि नियमों के स्तर पर सभी को समानता दी जाती है किंतु अवसरों की उपलब्धि के लिये सभी के पास पर्याप्त स्थितियाँ हैं या नहीं, इस पर विचार नहीं किया जाता।

नकारात्मक समानता जिस अवधारणा पर टिकी है वह है-'स्वत्वमूलक व्यक्तिवाद' (Possessive Individualism)। इसका अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी क्षमताओं का स्वामी स्वयं है और इसके लिये वह किसी भी अर्थ में समाज की ऋणी नहीं है। समानता का अर्थ मात्र इतना है कि सभी व्यक्तियों को अपनी-अपनी क्षमताओं के साथ जीवन जीने की समानता उपलब्ध करायी जाए। स्वाभाविक है कि विभिन्न क्षमताओं से युक्त व्यक्ति यदि समान दौड़ में शामिल होंगे तो परिणामत: विषमता उत्पन्न होगी। यह विषमता नकारात्मक समानता के विचार से सुसंगत व न्यायोचित है।

नकारात्मक समानता पूर्ण समानता का उद्देश्य नहीं रखती बल्कि उसका विचार 'आनुपातिक समानता' (Proportional Equality) का है। इसका अर्थ है कि समाज के सभी व्यक्ति समान नहीं हो सकते क्योंकि उनकी कुल. क्षमताएँ भी असमान हैं। जिन व्यक्तियों में समान गुण अथवा समान क्षमताएँ हैं, उनमें ही समानता विद्यमान होती है। आनुपातिक समानता का यह विचार अरस्तू से प्रेरित है जिसे नकारात्मक उदारवादियों ने स्वीकारा है।

नकारात्मक समानता का दृष्टिकोण विभिन्न क्षेत्रों में अलग-अलग तरीकों से व्यक्त होता है। कानूनी समानता का अर्थ इसके लिये मात्र इतना है कि सभी के लिये कानून और न्याय देने वाली संस्थाएँ समान हों। आर्थिक समानता का अर्थ है कि सभी व्यक्तियों को अर्थव्यवस्था में अपना व्यवसाय चुनने की तथा किसी भी अनुबंध को मानने या न मानने की समान शक्ति उपलब्ध हो। राजनीतिक समानता मूलत: समान मताधिकार में व्यक्त होती है। इसके अतिरिक्त किसी भी पद के लिये समान रूप से दावेदारी प्रस्तुत कर सकना भी इसमें शामिल है। सामाजिक समानता इस दृष्टिकोण से यह है कि कोई भी नियम या कानून किसी भी सामाजिक वर्ग से विभेद न करता हो।

Copyright– Drishti The Vision Foundation

स्वतंत्रता की अवधारणा *(Concept of Liberty)*

मानव जीवन के सर्वांगीण विकास एवं समाज की प्रगति हेतु स्वतंत्रता का होना आवश्यक है, अत: सामाजिक-राजनीतिक दर्शन में एक महत्त्वपूर्ण आदर्श के रूप में स्वतंत्रता को स्थान दिया गया है। समानता जहाँ समाजवादी विचारधारा का केंद्रिय-तत्त्व है, वहीं उदारवादी विचारधारा स्वतंत्रता पर विशेष बल देती है।

स्वतंत्रता *(Liberty)*

स्वतंत्रता, अंग्रेजी शब्द 'लिबर्टी' का हिन्दी रूपांतर है। इस शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा के शब्द 'लिबर्टी' से हुई है। 'लिबर्टी' का अर्थ है मुक्ति अर्थात् बंधनों का अभाव/अत: व्युत्पत्ति की दृष्टि से स्वतंत्रता का अर्थ है- बंधनों का अभाव। इस अर्थ में स्वतंत्रता का आशय मनुष्य की इच्छा और कार्य पर किसी भी प्रकार के बंधनों का न होना माना जाएगा।

नकारात्मक स्वतंत्रता

स्वतंत्रता की संकल्पना राजनीति दर्शन की अत्यंत विवादास्पद संकल्पना है जिसका आरंभिक स्वरूप नकारात्मक स्वतंत्रता के रूप में प्रकट हुआ। नकारात्मक संकल्पना के समर्थक मुख्यत: वे दार्शनिक हैं जो आरंभिक उदारवाद या स्वेच्छातंत्रवाद से संबंधित हैं, जैसे-हरबर्ट स्पेंसर, स्मिथ, मिल, मिल्टन फ्रीडमैन तथा आइज़िया बर्लिन। इनकी संकल्पना को नकारात्मक स्वतंत्रता इसलिये कहा जाता है क्योंकि इन्होंने स्वतंत्रता की व्याख्या 'कुछ स्थितियों के अभाव' के रूप में की है, न कि 'कुछ स्थितियों की उपलब्धता' के अर्थ में।

नकारात्मक संकल्पना के अनुसार स्वतंत्रता का अर्थ है- 'बंधनों का अभाव', अर्थात् यदि कोई व्यक्ति अन्य व्यक्तियों द्वारा विवश नहीं किया गया है तो वह स्वतंत्र है। हेलिविटस का कथन है कि ''स्वतंत्र व्यक्ति वही है जो जंजीरों में जकड़ा नहीं है, जो दंड के भय से गुलाम की तरह आतंकित नहीं है।'' नकारात्मक स्वतंत्रता के समर्थकों ने यह अवधारणा समझाने के लिये इस कथन का प्रयोग भी किया है।

इस विचारधारा के दार्शनिक 'स्वतंत्रता' और 'स्वतंत्रता के लिये अनुकूल स्थितियों' में विभेद करते हैं। ऐसा हो सकता है कि किसी स्वतंत्रता का उपयोग करने के लिये किसी व्यक्ति के पास पर्याप्त साधन न हों किंतु यह उसकी वैयक्तिक समस्या है, इससे स्वतंत्रता खंडित नहीं होती। उदाहरण के लिये, यदि कोई व्यक्ति चल फिर नहीं सकता तो इसका यह अर्थ नहीं कि उसके पास विचरण की स्वतंत्रता नहीं है। हेलिविटस का ही कथन है कि ''यदि कोई व्यक्ति गरुड़ पक्षी की तरह पंख फैलाकर आकाश में नहीं उड़ सकता तो यह उसकी अपनी कमी है। इसे स्वतंत्रता का अभाव नहीं कहा जा सकता।''

नकारात्मक स्वतंत्रता का विचार 'स्वत्वमूलक व्यक्तिवाद' (Possessive Individualism) के सिद्धांत पर टिका है जिसके मूल में माना गया है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी क्षमताओं का स्वामी है। यह विचार मानता है कि व्यक्ति अपने जीवन के संबंध में श्रेष्ठतम निर्णय स्वयं ले सकता है और अपने संबंध में उसे ही निर्णय लेना चाहिये। मिल ने कहा कि प्रत्येक व्यक्ति के कुछ कार्य स्व-संबंधी (Self-Regarding) होते हैं जिनका प्रभाव सिर्फ उस पर पड़ता है। इन कार्यों के संबंध में व्यक्ति को पूर्ण स्वतंत्रता दी जानी चाहिये। प्रश्न है कि इस स्वतंत्रता की सीमा क्या है? ये दार्शनिक मानते हैं कि जो कार्य अन्य व्यक्तियों को प्रभावित करते हैं, उनको पूर्ण स्वतंत्रता नहीं दी जा सकती। राज्य को इन कार्यों के नियमन का अधिकार है किंतु यह वस्तुनिष्ठ

Copyright– Drishti The Vision Foundation

न्याय की अवधारणा *(Concept of Justice)*

सामाजिक-राजनीतिक दर्शन में स्वीकृत एक महत्त्वपूर्ण मानवीय मूल्य 'न्याय' है। यह सामाजिक-राजनीतिक जीवन का सर्वोच्च उद्देश्य है, जो अधिकार, स्वतंत्रता, समानता जैसी अन्य अवधारणाओं में समन्वय कराता है। यह किसी भी समाज के प्रगतिशील एवं सभ्य होने के लिये आवश्यक शर्त है। प्राचीन भारतीय ग्रंथों में न्याय को 'धम' का पर्यायवाची माना गया है।

प्लेटो का न्याय सिद्धांत *(Plato's Theory of Justice)*

'न्याय' का विचार प्लेटो के दर्शन का केंद्रीय तत्त्व रहा है। संभवत: यही कारण है कि प्लेटो ने अपने ग्रंथ "Republic" का वैकल्पिक नाम "Concerning Justice" रखा है। बार्कर ने कहा भी है कि न्याय का दर्शन प्लेटो के समस्त दर्शन की नींव है।

प्लेटो के लिये न्याय का अर्थ वह नहीं है जिसे हम न्याय की सामान्य व्याख्याओं में देखते हैं। प्लेटो न्याय को आत्मा का गुण मानता है जिसका संबंध 'स्वकर्त्तव्यपालन' से है। प्लेटो से पूर्व न्याय के कई बाह्य दृष्टिकोण प्रचलित थे, जैसे थ्रेसीमेकस का यह विचार कि 'शक्तिशाली का हित ही न्याय है' तथा ग्ल्यूकोन का यह मत कि 'न्याय भय का शिशु है और कमज़ोर की आवश्यकता है।' किंतु, प्लेटो को ये सभी मत अनुचित प्रतीत हुए और उसने न्याय का ऐसा सिद्धांत दिया जो व्यक्ति के भीतरी पक्ष 'आत्मा' से जुड़ता था।

प्लेटो के अनुसार व्यक्ति में तीन नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ होती हैं- इंद्रिय तृष्णा या वासना (Appetite), शौर्य या साहस (Spirit) तथा बुद्धि या ज्ञान (Wisdom)। जब ये तीनों तत्त्व व्यक्ति के मस्तिष्क में उचित अनुपात या समन्वय की स्थिति में रहते हैं तो यही समन्वय या सामंजस्य जीवन में न्याय की सृष्टि करता है। जब यह संतुलन बिगड़ता है तो व्यक्ति कामांध, क्रूर या धर्मान्ध होने लगता है।

प्लेटो के अनुसार राज्य व्यक्ति की ही विशेषताओं का विराट रूप है (The State is a Man writ large)। इस रूप में राज्य में भी व्यक्ति की भाँति तीन गुणों का समावेश होता है। पहला गुण उत्पादकता का है जिसका संबंध वासना (Appetite) से है, दूसरा गुण सैनिकत्व का है जिसका संबंध शौर्य या साहस (Spirit) से है और तीसरा गुण दार्शनिक-तत्त्व है जिसका संबंध बुद्धि (wisdom) से है। न्यायपूर्ण राज्य वह है जहाँ व्यक्ति के मूलभूत गुणों और राज्य की आवश्यकताओं में समन्वय हो जाए। व्यक्तियों के मूल गुणों के आधार पर प्लेटो ने उनके तीन वर्ग निर्धारित किये हैं-

1. वासना के प्रतिनिधि - 'उत्पादक वर्ग' या 'कृषक वर्ग'।
2. शौर्य के प्रतिनिधि - 'सैनिक वर्ग'।
3. विवेक के प्रतिनिधि - 'संरक्षक वर्ग' या 'दार्शनिक शासक वर्ग'।

यदि किसी राज्य में उत्पादक वर्ग बेहतर तरीके से उत्पादन करे, सैनिक वर्ग उसे पूर्ण सुरक्षा प्रदान करे तथा दार्शनिक शासक वर्ग नि:स्वार्थ भाव से शासन करे तो वह न्याय की स्थिति में होगा। ध्यातव्य है कि प्लेटो ने राज्य की बागडोर दार्शनिक वर्ग को दी है क्योंकि ज्ञान के आलोक के बिना समाज अंधकार में भटक सकता है। यदि शासन दार्शनिकों के हाथ में नहीं दिया जाएगा तो उत्पादक वर्ग की अनियंत्रित लालसा और सैनिक वर्ग का अनियंत्रित भावावेग समाज को विध्वंस की ओर ले जाएगा।

इस प्रकार, राज्य के इन वर्गों का अपनी-अपनी सहज प्रवृत्तियों के अनुकूल अपने क्षेत्रों का विशेषीकरण (Specialization) कर लेना ही न्याय की अवस्था है। यह दृष्टिकोण एक सीमा तक भारतीय जीवन-दर्शन की उस मान्यता से जुड़ता है जिसमें मानव को स्वधर्म के अनुकूल जीवन जीने की शिक्षा दी गई है।

Copyright– Drishti The Vision Foundation

संप्रभुता की संकल्पना *(Concept of Sovereignty)*

संप्रभुता अंग्रेजी शब्द Sovereignty का हिन्दी रूपांतरण है। Sovereignty शब्द लैटिन भाषा के Superanurs से बना है, जिसका अर्थ होता है श्रेष्ठ, परम, सबसे ऊपर या सर्वोच्च शक्ति। अतः संप्रभुता का तात्पर्य सर्वोच्च शक्ति या सत्ता से है। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक राज्य अपने आंतरिक मामलों में स्वतंत्र एवं सर्वोच्च तथा बाह्य विषयों से स्वतंत्र है।

बोदाँ का संप्रभुता सिद्धांत *(Bodin's Theory of Sovereignty)*

राजनीति-दर्शन में बोदाँ की ख्याति संप्रभुता की संकल्पना को स्थापित करने वाले पहले विचारक के रूप में है। उसने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'The Republic' में इस सिद्धांत की चर्चा की है। माना जाता है कि मैकियावली और लूथर ने राज्य को धार्मिक सत्ता से मुक्त कराने के जो प्रयत्न किये थे, उनकी तार्किक परिणति बोदाँ के संप्रभुता के सिद्धांत के रूप में सामने आई।

बोदाँ के समय की परिस्थितियाँ

बोदाँ 16वीं सदी के फ्राँस का दार्शनिक है। उसका समय मध्यकाल और आधुनिक काल के संक्रमण का काल था। मध्यकाल के धर्मकेंद्रित ढाँचे में संप्रभुता जैसे विचार का विकास होना संभव नहीं था। इस पर मुख्यतः चार स्थितियाँ रोक लगाए हुई थीं-

1. रोम के पतन के बाद प्राकृतिक और दैवी कानून (Natural and Divine Law) का सिद्धांत बहुत महत्त्वपूर्ण हो गया था। ऐसी स्थिति में राजा द्वारा बनाए एवं लागू किये जाने वाले सकारात्मक कानून (Positive Law) के विचार का विकास ही संभव नहीं था।
2. मध्यकाल में चर्च राज्य पर प्रभुता का दावा लगातार कर रहा था और पोप की शक्ति राजा की शक्ति से अधिक बनी हुई थी; अतः संप्रभुता के विचार के पनपने की कोई संभावना मौजूद नहीं थी।
3. सामंतवादी व्यवस्था (Feudal System) के कारण सत्ता राजा से लेकर सामंतों-सरदारों तक विभाजित थी। सामंत-सरदार अपने-अपने क्षेत्र में संप्रभु माने जाते थे। अतः ऐसी स्थिति में केंद्रीकृत प्रभुसत्ता (Centralized Sovereignty) का विचार पनपना संभव नहीं था।
4. मध्यकाल में अनेक प्रकार के निगमों (Corporations) का विचार तथा नगरों द्वारा अपनी स्वतंत्रता के लिये किये जाने वाले दावे भी थे।

16वीं सदी में फ्राँस की स्थितियाँ काफी जटिल थीं। सन् 1562 से लेकर 1598 तक कैथोलिक एवं प्रोटैस्टेंटों के मध्य नौ धर्म युद्ध हो चुके थे। फ्राँस का राजा कभी किसी गुट का साथ देता था तो कभी किसी का। 1572 ई. में चार्ल्स नवम् ने एक ही दिन 20000 प्रोटैस्टेंटों की हत्या करा दी थी। ऐसी स्थिति में कई विचारक चाहते थे कि कोई ऐसी सत्ता हो जो धर्म पर नियंत्रण कर सके और धार्मिक मामलों में उदारता एवं सहिष्णुता की नीति पर चल सके। इस समय जनसाधारण भी धार्मिक एवं सामंती शोषण से परेशान हो चुका था। फ्राँस व इंग्लैंड में सामंतवाद के विध्वंस के आसार बन ही रहे थे।

इन संक्रमणकालीन स्थितियों में कुछ प्रगतिशील विचारकों ने एक बौद्धिक संस्था का निर्माण किया, जिसका नाम था 'पोलीतीक' (Politique)। बोदाँ इसी संस्था से संबद्ध था और फ्राँस के तत्कालीन राजा 'फ्राँस्वा' का

Copyright– Drishti The Vision Foundation

शासन के प्रकार *(Forms of Government)*

राजतंत्र *(Monarchy)*

सामान्यत: राजतंत्र का अर्थ 'एक व्यक्ति' के शासन से लिया जाता है जिसमें शासक जीवनपर्यन्त शासन करता है व संप्रभुता उसी में वास करती है। राजतंत्र में शासक की सत्ता वंशानुगत होती है तथा राजा का पुत्र-पुत्री ही उत्तराधिकारी बन सकता है।

इतिहास पर दृष्टि डालने से स्पष्ट हो जाता है कि राजतंत्र मानव इतिहास में शुरू से ही विद्यमान रहा है। मानवशास्त्र में जनजातियों के अध्ययन से भी राजतंत्र के प्राचीन स्वरूप की जानकारी प्राप्त होती है। मध्यकाल में राजतंत्र का स्वरूप कुछ कमज़ोर हुआ क्योंकि यूरोप में राजा का शक्ति पोप तथा सामंतों में विभाजित थी। पुनर्जागरण के पश्चात् अनेक दार्शनिकों ने सामंतों व पोप की शक्ति पर चोट की तथा राजतंत्र का समर्थन किया। इनमें मुख्यत: बोदाँ, हॉब्स, मैकियावली व ह्यूगो ग्रोश्यस थे। बोदाँ ने राजा को पूर्णत: निरपेक्ष शक्ति प्रदान की तथा राजसत्ता के लिये वंशानुगत प्रथा का समर्थन किया। इन चिन्तकों के प्रभाव के कारण फ्राँस में लुई XIV, इंग्लैंड में हेनरी VIII तथा स्पेन में जॉर्ज पंचम जैसे शक्तिशाली राजा हुए। इन राजाओं के प्रभाव से 'नये राजतंत्र' (New Monarchy) का उदय हुआ। 16वीं-17वीं शताब्दी में राजतंत्र अपने चरमोत्कर्ष पर था जैसा कि लुई XIV के कथन से प्रकट होता है कि 'मैं ही राज्य हूँ'।

राजतंत्र के पतन का कारण *(Causes of Decline of Monarchy)*

पुनर्जागरण के पश्चात् धर्मसुधार आंदोलन ने पारलौकिक जीवन के स्थान पर इहलौकिक जीवन तथा वाणिज्य-व्यापार को बढ़ावा दिया। वाणिज्य-व्यापार के समर्थक उदारवादी दार्शनिकों ने व्यक्तिवाद पर बल दिया। इनमें जॉन लॉक, एडम स्मिथ व बेंथम ने राज्य को 'रात्रिरक्षक' (Night Watchman) की संज्ञा दी। इनके अनुसार राज्य का कार्य सिर्फ यह देखना है कि कोई व्यक्ति कानूनों का उल्लंघन न करे। ध्यातव्य है कि उदारवाद ऐसे राज्य का विरोध करता है जो 'सर्वाधिकारवादी' प्रकृति का हो।

इंग्लैंड में 1688 ई. की गौरवपूर्ण क्रांति ने संवैधानिक राजतंत्र (Constitutional Monarchy) का मार्ग प्रशस्त किया। संवैधानिक राजतंत्र में व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों (Natural Rights) पर बल दिया गया जिससे व्यक्ति का महत्त्व बढ़ने लगा। क्रांति के पश्चात् राजा की निरपेक्ष-प्रभुसत्ता, सापेक्ष-प्रभुसत्ता में परिवर्तित हो गई।

रूसो तथा लॉक जैसे दार्शनिकों ने राजतंत्र के दैवीय सिद्धांत (Divine Theory) को नकार दिया। इन्होंने 'सामाजिक अनुबंध का सिद्धांत' (Theory of Social Contract) प्रतिपादित किया। इस सिद्धांत के अनुसार राज्य की उत्पत्ति मानवों के पारस्परिक समझौते के कारण हुई है। अत: राज्य एक कृत्रिम संस्था है जिसे मानव ने अपने हित-साधन के लिये ही बनाया है। इससे भी राजतंत्र का निषेध हुआ। रूसो ने 'लोक प्रभुसत्ता' के विचार को बढ़ावा दिया, जिसके अनुसार प्रभुसत्ता किसी शासक में नहीं बल्कि जनसाधारण के पास होती है।

1789 ई. की फ्राँसीसी क्रांति ने राजतंत्र को जड़ से उखाड़ फेंका। फ्राँसीसी क्रांति को रूसो व मान्टेस्क्यू के विचारों का परिणाम माना जाता है। इन्होंने समानता, स्वतंत्रता व न्याय पर ज़ोर दिया। मान्टेस्क्यू का स्पष्ट विचार था कि सम्पूर्ण शक्ति एक व्यक्ति या संस्था में केंद्रित नहीं होनी चाहिये।

Copyright– Drishti The Vision Foundation

लोकतंत्र *(Democracy)*

उदार लोकतंत्र *(Liberal Democracy)*

आधुनिक युग में लोकतंत्र की मुख्य धारा को 'उदार लोकतंत्र' के नाम से जाना जाता है क्योंकि लोकतंत्र का सिद्धांत उदारवादी दर्शन की कोख से ही पैदा हुआ है। ये धारणाएँ परस्पर इतनी संबद्ध हो गई हैं कि यदि लोकतंत्र शब्द के साथ कोई विशेषण न लगाया जाए तो सामान्यत: उसे 'उदार लोकतंत्र' के अर्थ में ही समझा जाता है।

उदारवाद का आरंभ पूंजीवाद के उदय से संबंधित है। उदारवाद वह दर्शन है जिसने उभरते हुए पूंजीवादी या बुर्जुआ वर्ग के आर्थिक सपनों को सैद्धांतिक आधार उपलब्ध कराया। पूंजीवाद के कारण तीव्र औद्योगीकरण एवं शहरीकरण हुआ जिससे मजदूर वर्ग शहरों में रहने लगा। खुले बाज़ार की प्रतिस्पर्द्धा तथा राज्य की 'अहस्तक्षेप की नीति' के कारण मजदूर वर्ग की दुर्दशा होने लगी। आगे चलकर यह वर्ग अपनी विशाल संख्या के प्रति सजग हुआ तथा इसने दुर्दशा से उबरने के लिये राजनीतिक अधिकारों की मांग करनी आरंभ कर दी। पूंजीवादी व्यवस्था को अपने अस्तित्व की रक्षा के लिये मजदूर वर्ग को राजनीतिक अधिकार सौंपने पड़े। इस प्रकार उदारवादी दर्शन ने 'मुक्त बाज़ार अर्थव्यवस्था' के समर्थन के साथ 'वयस्क मताधिकार' का भी समर्थन किया। यहाँ आकर उदारवाद तथा लोकतंत्र के सिद्धांत परस्पर संबद्ध हो गए तथा 'उदार लोकतंत्र' की उत्पत्ति हुई।

उदारवादी दर्शन पिछली चार शताब्दियों में लगातार परिवर्तित होता रहा है तथा इन्हीं परिवर्तनों के साथ-साथ इस दर्शन के लोकतंत्र संबंधी विचार भी बदलते गए हैं। वर्तमान समय में उदार लोकतंत्र के अंतर्गत निम्नलिखित सिद्धांत शामिल हैं:

1. उदार लोकतंत्र का प्रतिष्ठित/क्लासिकी/परंपरागत/लोकप्रिय सिद्धांत (Classical Theory)।
2. उदार लोकतंत्र का विशिष्टवर्गीय सिद्धांत (Elite Theory)।
3. उदार लोकतंत्र का बहुलवादी सिद्धांत (Pluralistic Theory)।
4. सहभागी लोकतंत्र का सिद्धांत (Participatory Democracy)।

ऐतिहासिक विकास

उदार लोकतंत्र का परंपरागत सिद्धांत आधुनिकीकरण की प्रक्रिया का परिणाम है। पुनर्जागरण तथा सुधारवाद के आंदोलनों ने व्यक्ति के मूल्य को सर्वोच्चता प्रदान करते हुए तमाम चिंतन का केंद्र 'व्यक्ति' को माना। व्यक्ति को साधन के स्थान पर साध्य मानने की प्रवृत्ति का विकास हुआ। हॉब्स ने स्पष्टत: कहा कि राज्य व्यक्तियों के समझौते का परिणाम है, अत: व्यक्ति राज्य से अधिक महत्त्वपूर्ण है। लॉक ने सत्ता को जनता की सहमति का परिणाम माना, सत्ता को जनता द्वारा सरकार को सौंपी गई अमानत के रूप में परिभाषित किया तथा प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धांत देकर स्पष्ट किया कि कोई भी राज्य व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों का उल्लंघन नहीं कर सकता। इंग्लैंड की क्रांतियों (1649 तथा 1688 ई.) ने राजा के अधिकारों पर अंकुश लगाते हुए संसद के सर्वोच्च अधिकार को स्थापित किया।

18वीं शताब्दी में बुद्धिवादी दार्शनिक मांटेस्क्यू ने स्वतंत्रता के विचार को महत्त्व दिया तथा राज्य की तीनों शक्तियों के केंद्रीकरण को चुनौती देते हुए शक्ति पृथक्करण (Separation of powers) के सिद्धांत की सिफारिश की। इसी शताब्दी में रूसो (Rousseau) ने लोकतंत्र की आत्मा के रूप में सामान्य इच्छा का सिद्धांत (Principle

Copyright– Drishti The Vision Foundation

व्यक्ति एवं राज्य संबंध *(Individual and State Relation)*

व्यक्ति और राज्य के संबंधों के विभिन्न पक्षों में से एक अधिकार है और एक कर्त्तव्य। अधिकार से पता चलता है कि व्यक्ति को राज्य से क्या-क्या प्राप्त होना चाहिये जबकि कर्त्तव्य से पता चलता है कि राज्य को व्यक्ति से क्या प्राप्त होना चाहिये?

अधिकार *(Rights)*

अधिकारों की धारणा आधुनिक काल की है। प्राचीन काल में आदर्शवाद जैसी विचारधाराएँ प्रमुख थीं जिनमें व्यक्ति के कर्त्तव्यों की ही बात की गई थी, अधिकारों की नहीं। मध्यकाल में नामवादियों तथा वस्तुवादियों (Realists) की राजनीतिक बहस में अधिकारों की संक्षिप्त चर्चा दिखाई पड़ती है किंतु वहाँ भी कोई निश्चित सिद्धांत नहीं बना। आधुनिक काल में पुनर्जागरण, वैज्ञानिक क्रांति व औद्योगिक क्रांति के कारण जब पूंजीवाद का विकास हुआ तो उभरते हुए पूंजीवादी वर्ग को सामंत वर्ग के विशेषाधिकारों से समस्या महसूस हुई। इस वर्ग को सामंतों से संघर्ष के लिये अधिकारों की आवश्यकता हुई। इसीलिये उदारवादी दर्शन के शुरुआती दार्शनिक जॉन लॉक के विचारों से ही अधिकार संबंधी चिंतन दिखने लगता है।

अधिकारों की परिभाषा विभिन्न दार्शनिक भिन्न-भिन्न प्रकार से करते हैं। मोटे तौर पर अधिकार का अर्थ राज्य द्वारा व्यक्ति को दी जाने वाली उन परिस्थितियों से है जिनमें उसे अपने विकास का अवसर मिलता है। लास्की ने अधिकारों की परिभाषा देते हुए कहा कि 'अधिकार सामाजिक जीवन की वे परिस्थितियाँ हैं जिनके बिना आमतौर पर कोई व्यक्ति पूर्ण आत्म-विकास की आशा नहीं कर सकता।'

अधिकारों की उदारवादी व्याख्या

अधिकारों के सिद्धांत की शुरुआत उदारवाद से हुई किंतु उदारवाद के भीतर अधिकारों के कई सिद्धांत प्रचलित हैं। प्रमुख सिद्धांत इस प्रकार हैं–

1. **प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धांत:** इस चरण की शुरुआत **लॉक** के साथ ही हुई। लॉक का दावा है कि व्यक्ति को अधिकार राज्य ने नहीं, प्रकृति ने दिये हैं। राज्य का जन्म ही इसलिये हुआ है कि वह प्रकृति द्वारा प्रदत्त अधिकारों की रक्षा कर सके। उसने तीन अधिकारों को प्राकृतिक अधिकार माना-जीवन का अधिकार, स्वतंत्रता का अधिकार तथा संपत्ति का अधिकार। अठारहवीं सदी में फ्राँसीसी तथा अमेरिकी क्रांतियों में ऐसे ही अधिकारों की मांग की गई। ध्यातव्य है कि सामाजिक समझौते के सिद्धांत को हॉब्स और रूसो ने भी माना था किंतु 'व्यक्ति' को जितना महत्त्व लॉक ने दिया, वे दोनों नहीं दे सके।
2. **कानूनी अधिकार: बेंथम** व **मिल** ने प्राकृतिक अधिकारों के स्थान पर कानूनी अधिकारों की बात की। इनका स्पष्ट मत है कि प्रकृति मनुष्य को कोई अधिकार नहीं देती। यदि प्रकृति ने जीवन का अधिकार दिया होता तो जानलेवा प्राकृतिक दुर्घटनाएँ क्यों होतीं? अधिकार तभी अस्तित्व में आते हैं जब राज्य कानून बनाकर उन्हें लागू करता है। बेंथम का स्पष्ट कथन है कि 'अधिकार कानूनों तथा केवल कानूनों का फल है।' सीमित रूप से रूसो भी इस सिद्धांत का समर्थन करता है।

Copyright– Drishti The Vision Foundation

सामाजिक प्रगति एवं विकास *(Social Progress and Development)*

प्रगति एवं विकास सामाजिक परिवर्तन की दो धारणाएँ हैं जिनका प्रयोग सामाजिक-राजनीतिक दर्शन में होता है। ये दोनों धारणाएँ पूर्णत: निश्चित और सुपरिभाषित नहीं हैं। कभी-कभी वृद्धि (Growth), उद्विकास (Evolution), प्रगति (Progress) और विकास (Development) के निश्चित अर्थ को लेकर सामाजिक दर्शन में विवाद भी होता है।

सामाजिक उन्नति/प्रगति *(Social Progress)*

प्रगति की अवधारणा आधुनिक काल की है। वह सामाजिक परिवर्तन जो सकारात्मक हो तथा कुछ निश्चित उद्देश्यों के प्रति पूर्वनियोजित प्रयासों का परिणाम हो, उसे प्रगति कहते हैं। यह उद्विकास (Evolution) से भिन्न है क्योंकि उद्विकास प्राकृतिक होता है जबकि यह योजनाबद्ध; उद्विकास मूल्यों से तटस्थ होता है, जबकि इसमें मूल्यात्मक पक्ष भी निहित होता है। रॉबर्ट निस्बत (Robert Nisbet) ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'द हिस्ट्री ऑफ प्रोग्रेस' में प्रगति की अवधारणा का सूक्ष्म विवेचन किया है।

18वीं शताब्दी से पहले सामाजिक परिवर्तन के संबंध में मुख्यत: दो प्रकार की विचारधाराएँ प्रचलित थीं– निराशावादी (Pessimistic) तथा चक्रीय (Circular)। निराशावादी विचारधारा मानती है कि इतिहास अच्छी से बुरी दिशा की ओर बढ़ता है। इस विचारधारा के अनुसार मनुष्य का स्वर्णिम समय इतिहास में बीत चुका है तथा भविष्य अंधकारमय है। प्लेटो का विचार इसी प्रकार का है। उसने माना कि सृष्टि का शुरुआती आधा अंश अच्छा समय था जबकि आगे का समय पतन का दौर है। ईसाई धर्मशास्त्री भी मोटे तौर पर यही विचार रखते हैं। उनके अनुसार मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ समय वह था जब वह 'स्वर्ग के उद्यान' में था। आदिम पाप करने के कारण उसे पृथ्वी पर भेजा गया। उसकी पापवृत्ति बढ़ती जा रही है, इसलिये उसका भविष्य निराशाजनक है।

दूसरी विचारधारा वह थी जो इतिहास को चक्रीय रूप में देखती है। यह विचारधारा भारत के हिंदू दर्शन में सत्युग, त्रेता युग, द्वापर युग और कलियुग के चक्र में दिखती है। जैन दर्शन इसकी व्याख्या 'उत्सर्पिणी' और 'अवसर्पिणी'-दो अवस्थाओं के रूप में करता है। पश्चिम में स्पेंगलर, टॉयनबी, सोरोकिन, मॉन्टेस्क्यू और हेलविटेस जैसे विचारकों ने इसी प्रकार की धारणा प्रस्तुत की। इनका मानना है कि इतिहास कुछ समय तक अच्छाई की ओर बढ़ता है, फिर बुराई की ओर।

18वीं शताब्दी के बाद रेनेसाँ, धर्मसुधार और औद्योगिक क्रांति के कारण यूरोप में वैज्ञानिक मनोवृत्ति तथा तर्कवाद का विकास हुआ जिसने प्रगति की विचारधारा को जन्म दिया। 18वीं शताब्दी में वॉल्टेयर व कांट की विचारधारा में भी प्रगति का विचार मिलता है। कांट वह पहला विचारक है जिसमें पहली बार यह विचार दिखता है कि संपूर्ण मानवजाति एक बेहतर अवस्था की तरफ बढ़ रही है जिसमें विश्वव्यापी नागरिक समाज (Civil Society) होगा और न्याय तथा व्यक्तिगत स्वतंत्रता के मूल्यों पर मानव सभ्यता स्थापित होगी।

19वीं शताब्दी में ऑगस्ट कॉम्ट, हर्बर्ट स्पेन्सर, हीगेल और मार्क्स जैसे चिंतक प्रगति की अवधारणा लेकर आगे बढ़े। कॉम्ट ने वैज्ञानिकता को प्रगति का आधारभूत तत्त्व माना। उसने दावा किया कि विश्व के हर समाज का विकास तीन अवस्थाओं से गुज़र कर होता है– धर्मशास्त्रीय, तत्त्वमीमांसीय व प्रत्यक्षवादी। पहली अवस्था में पारलौकिक कल्पनाओं की स्थिति होती है। दूसरी अवस्था में सूक्ष्म चिंतन होता है किंतु तीसरी

Copyright– Drishti The Vision Foundation

लिंग भेद *(Gender Discrimination)*

भारत के कई क्षेत्रों में आज भी जहाँ लड़का पैदा होने पर लोग जश्न मनाते हैं, वहीं दूसरी ओर यदि लड़की का जन्म होता है तो खामोशी की स्थिति विद्यमान हो जाती है। आए दिन महिलाएँ सामाजिक, आर्थिक और शैक्षणिक क्षेत्र में लिंग भेदभाव की शिकार होती रहती है। इसी लैंगिक असमानता के विरुद्ध लैंगिक समानता एक सामाजिक और राजनीतिक आदर्श है। जो मानवीय सभ्यता एवं संस्कृति के विकास के साथ-साथ विकसित हुई है। लैंगिक समानता की स्थापना हेतु लिंग आधारित भेदों को दूर करना आवश्यक है। यही कारण है कि समकालीन युग में लोकतांत्रिक जीवन मूल्यों की स्वीकृति व अंतराष्ट्रीय स्तर पर मानवाधिकारों की मान्यता के साथ-साथ लिंग आधारित विभेद को समाप्त करने की बात प्रबलता से की जा रही है। लिंग (Gender) सामाजिक-सांस्कृतिक शब्द है, यह समाज में 'पुरुषों' और 'महिलाओं' के कार्यों एवं व्यवहारों को परिभाषित करता है। जबकि यौन (Sex) शब्द स्त्री और पुरुष की शारीरिक संरचना को व्यक्त करता है। यौन एक जैविक एवं शारीरिक घटना है, जबकि लिंग (Gender) सामाजिक-सांस्कृतिक मनोवृत्ति को व्यक्त करता है। अपने सामाजिक, सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक पहलुओं में लिंग (Gender) पुरुष एवं स्त्री के मध्य शक्ति के कार्य के संबंध है जहाँ पुरुष को महिला से श्रेष्ठ माना जाता है। इस प्रकार लिंग (Gender) मानव निर्मित सिद्धांत है, यौन (Sex) मानव की प्राकृतिक या जैविक विशेषता है।

लिंग-भेद के मूल कारण : जैविक या सांस्कृतिक? *(Basic Causes of Gender Discrimination : Biological or Cultural?)*

नारीवादियों में इस प्रश्न पर गहरा मतभेद है कि लिंग विषमता के वास्तविक कारण पुरुष व नारी की जैविक संरचना में निहित हैं या सामाजिक-सांस्कृतिक संरचनाओं में। सामान्यत: लिंग विषमता को उचित मानने वाले रूढ़िवादी (Conservative) विचारक व कुछ अन्य चिंतक जैविक कारकों को मूल मानते हैं जबकि नारीवादी आंदोलन की प्रमुख धाराएँ सामाजिक-सांस्कृतिक कारकों को लिंग विषमता के लिये उत्तरदायी मानती हैं।

जैविक कारण *(Biological Causes)*

इस मत के अनुसार लिंग विषमता के मूल कारण पुरुष व नारी की जैविक भिन्नताओं में निहित हैं। इस मत का समर्थन निम्नलिखित प्रकारों से किया गया है–

1. कुछ मानवशास्त्रियों का दावा है कि पुरुष की मानसिक क्षमता जैविक तौर पर ही नारी से अधिक है। उदाहरण के लिये, ए.ए. रोबैक ने अपनी पुस्तक 'द साइकोलोजी ऑफ कैरेक्टर' में लिखा है कि पुरुषों में तार्किक चिंतन करने की क्षमता जन्मजात रूप से विद्यमान होती है जबकि महिलाओं में सामान्यत: इसका अभाव पाया जाता है। इसका प्रमाण कुछ लोग यह भी देते हैं कि पुरुषों में औसत रूप से महिलाओं से बेहतर 'आई.क्यू.' (I.Q.) पाया जाता है। कुछ मानवशास्त्रियों ने इसके लिये मस्तिष्क के आकार को प्रमाण बनाया है। सिफेलिक इंडेक्स (Cephalic Index) के आधार पर वे सिद्ध करते हैं कि पुरुषों का मस्तिष्क आकार में महिलाओं के मस्तिष्क से बड़ा होता है।
2. कुछ विचारकों, यथा-रॉबिन फॉक्स तथा जॉर्ज पीटर मरडॉक का दावा है कि महिलाओं का जैव व्याकरण (Bio-Grammer) पुरुषों से भिन्न होता है। जैव व्याकरण जैविक संरचना के उन नियमों को कहते हैं

Copyright– Drishti The Vision Foundation

उदारवाद *(Liberalism)*

उदारवाद राजनीतिक दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण संप्रदाय है जिसका आरंभ 17वीं शताब्दी के अंतिम चरण में हुआ और जो कई परिवर्तनों के साथ आज तक एक प्रमुख राजनीतिक विचारधारा बना हुआ है। उदारवाद 'लिबरलिज़्म' (Liberalism) शब्द का हिन्दी अनुवाद है। इसे उदारवाद (Liberalism) इसलिये कहा जाता है क्योंकि यह व्यक्ति के लिये अधिकतम स्वतंत्रता (Liberty) की मांग करता है।

उदारवाद का उद्‌भव 17वीं शताब्दी में हुआ। उस समय बहुत सी ऐसी परिस्थितियाँ थीं जिन्होंने इस विचारधारा के विकास में योगदान दिया। पुनर्जागरण आंदोलन ने न सिर्फ 'मानव' (Human being) के महत्त्व में वृद्धि की थी बल्कि 'व्यक्ति' (Individual) की प्रतिष्ठा भी बढ़ायी थी। इसके बाद धर्म सुधार आंदोलन ने भी धर्म के भीतर तार्किकीकरण को बढ़ावा दिया जिससे धर्म की नई व्याख्याएँ हुईं और मनुष्य को महत्त्व मिलना शुरू हुआ। इसी समय वैज्ञानिक क्रांति ने वैज्ञानिक मनोवृत्ति को बढ़ावा दिया। औद्योगिक क्रांति होने के साथ ही पूंजीवाद का विकास शुरू हुआ। पूंजीवादी प्रणाली में जिस बुर्जुवा वर्ग ने सामंत वर्ग के समक्ष चुनौती प्रस्तुत की, उसी बुर्जुवा वर्ग के पक्ष में उदारवादी विचारधारा की स्थापना हुई। बुर्जुवा वर्ग ने सामंतों को मिलने वाले विशेषाधिकारों को चुनौती दी, स्वतंत्रता और समानता जैसे राजनीतिक आदर्शों की मांग उठाई तथा अनुबंध की स्वतंत्रता जैसे आर्थिक विचारों को स्थापित किया। ये सभी विचार वस्तुतः पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के लिये आवश्यक स्थितियाँ निर्मित करने वाले विचार थे। इसलिये राजनीति दर्शन में प्रायः माना जाता है कि उदारवाद पूंजीवाद का वैचारिक तर्क है।

उदारवाद की विकास प्रक्रिया *(Evolution of Liberalism)*

उदारवाद का विकास कई चरणों में हुआ है। इसके विकास के प्रमुख चरणों का संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है-

(i) 'पारंपरिक' या 'नकारात्मक' उदारवाद *('Classical' or 'Negative' Liberalism)*

यह उदारवाद का आरम्भिक चरण है जो 17वीं शताब्दी के अंत से शुरू होकर लगभग 1850 ई. तक चलता रहा। इस वर्ग के प्रमुख विचारक हैं- जॉन लॉक, एडम स्मिथ, जेरेमी बेंथम तथा हर्बर्ट स्पेंसर। जॉन लॉक को उदारवाद का जनक भी कहा जाता है। इन विचारकों को 'पारंपरिक उदारवादी' इसलिये कहते हैं क्योंकि उदारवाद के विचारों की आरम्भिक धारणा इन्होंने प्रस्तुत की थी। इन्हें 'नकारात्मक उदारवादी' इसलिये कहते हैं क्योंकि इन्होंने स्वतंत्रता और समानता जैसे राजनीतिक आदर्शों की परिभाषा नकारात्मक पद्धति से की। नकारात्मक उदारवाद के प्रमुख विचार इस प्रकार हैं-

1. मनुष्य एक तार्किक प्राणी है तथा अपने जीवन के संबंध में सर्वश्रेष्ठ निर्णय वह स्वयं ही ले सकता है।
2. व्यक्ति के वैयक्तिक तथा सामाजिक हितों में कोई अंतर्विरोध नहीं है। व्यक्तिगत हित की साधना से ही व्यक्ति सामाजिक हित में सहायक होता है।
3. प्रत्येक व्यक्ति को कुछ मूल अधिकार प्राकृतिक रूप से ही प्राप्त हैं जिनमें स्वतंत्रता का अधिकार, जीवन का अधिकार तथा व्यक्तिगत संपत्ति का अधिकार प्रमुख हैं।

Copyright– Drishti The Vision Foundation

अराजकतावाद *(Anarchism)*

अराजकतावादी *(Anarchist)* सिद्धांत: "व्यक्ति के विकास के लिये राज्य का अंत ज़रूरी है"

अराजकतावाद वह सिद्धांत है जिसके अनुसार राज्य की सत्ता, चाहे वह किसी भी रूप में हो, अनावश्यक और अवांछित है। प्राचीन काल से ही इस सिद्धांत के सूत्र दिखाई पड़ते हैं। ग्रीक युग में स्टोइकों ने और आगे चलकर ईसाई धर्म प्रचारकों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से राज्य को गलत ठहराया। वर्तमान समय में तीन प्रकार के अराजकतावादी सिद्धांत प्रचलित हैं- (i) दार्शनिक-नैतिक अराजकतावाद, जैसे टॉलस्टाय और महात्मा गांधी के सिद्धांत, (ii) मार्क्सवादी अराजकतावाद, (iii) धर्मविरोधी अराजकतावाद, जैसे प्रूधों, बाकुनिन एवं क्रोपाटकिन के सिद्धांत। 'विलियम गॉडविन' ने अराजकतावादी सिद्धांत का सूत्रपात किया था। इनके अतिरिक्त जॉर्ज सोरेल तथा रॉबर्ट नोजिक को भी विशेष दृष्टि से अराजकतावादी चिंतन की धारा में स्वीकार किया जाता है।

वस्तुत: अराजकतावाद व्यक्तिवाद का ही विकसित रूप है, जो मानता है कि व्यक्ति के विकास की परंपरा में एक स्थिति ऐसी आती है जब वह अपने महत्त्व तथा नैतिक जगत के नियमों को समझकर राज्य की निरंकुश सत्ता के समक्ष झुकने से मना कर देता है। ऐसी स्थिति में धीरे-धीरे समाज राज्य के स्थान पर समूहों के माध्यम से सामाजिक ज़रूरतों को पूर्ण करने लगता है।

गांधीजी नैतिक व्यक्तिवाद (Moral Individualism) के समर्थक हैं। वे स्पष्टत: व्यक्ति को राज्य से श्रेष्ठ मानते हैं क्योंकि व्यक्ति आत्मा से संपन्न है जबकि राज्य 'आत्माहीन यंत्र' (Soulless Machine) है। अहिंसात्मक समाज में राज्य का स्थान नहीं होना चाहिये क्योंकि राज्य अपनी शक्ति से व्यक्ति पर अपनी इच्छा थोपने का प्रयत्न करता है। वह प्रत्येक व्यक्ति को एक ही साँचे में ढालकर वैयक्तिकता का दमन तथा समरूपता की स्थापना करने का प्रयास करता है। गांधीजी मानते हैं कि सामाजिक पुनर्निर्माण के लिये व्यक्ति का चारित्रिक पुनर्निर्माण ज़रूरी है। राज्य की ज़रूरत इसलिये पड़ती है कि वह व्यक्ति की गलत प्रवृत्तियों पर नियंत्रण कर सके, पर यदि प्रत्येक व्यक्ति स्वयं-विनियमित (Self-regulated) हो जाए तो राज्य की कोई भी आवश्यकता नहीं बचेगी। यह स्थिति प्रबुद्ध अराजकता (Enlightened Anarchy) की स्थिति होगी जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपना शासक स्वयं होगा। गांधी जी प्रत्ययवादी विचारक हैं और ईश्वर को मानने के कारण ईश्वरवादी भी हैं। उनके सिद्धांत को दार्शनिक अराजकतावाद (Philosophical Anarchism) या प्रशांत अराजकतावाद (Pacific Anarchism) कहा जाता है।

काउंट लियो टॉलस्टॉय भी गांधी जी की तरह दार्शनिक अराजकतावादी हैं। टॉलस्टाय पर ईसाई धर्म का गहरा प्रभाव है, जैसा कि गांधी जी पर हिंदू धर्म का है। टॉलस्टाय ने भौतिक सुखों को निरर्थक बताकर संसार को आध्यात्मिक सुखों की ओर प्रेरित किया था; निजी संपत्ति तथा राज्य की धारणाओं का भी खंडन किया था। गांधी जी पर टॉलस्टाय के विचारों का प्रभाव था, यह संकेत गांधी जी ने कई संदर्भों में दिया है।

प्रूधों ने अपनी कृति "What is property" में संपत्ति को चोरी के समान बताया। उसने कहा कि साम्यवाद भी ठीक विकल्प नहीं है। उसकी धारणा में ''मानव के द्वारा मानव के शोषण का अंत और राज्य का अंत एक ही बात है।'' अराजकतावादी स्थिति की प्राप्ति के लिये उसने क्रांति का समर्थन नहीं किया है।

Copyright– Drishti The Vision Foundation

समाजवाद *(Socialism)*

पृष्ठभूमि

समाजवाद मार्क्सवाद के दर्शन का लचीला रूप है। यह एक ऐसा शब्द है जिसका प्रयोग अनेक विद्वानों ने अलग-अलग संदर्भों में किया है। इन संदर्भों को तीन प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है। पहले संदर्भ में मार्क्सवाद के उद्भव से पहले के उन विचारों को समाजवाद कहा जाता है जिनमें मजदूरों की दशा सुधारने के लिये सेंट साइमन (Saint Simon) जैसे विचारकों ने पूंजीपतियों से आत्म विवेक के आधार पर अपील की। दूसरे संदर्भ में इस शब्द का प्रयोग ऐतिहासिक भौतिकवाद (Historical Materialism) की पाँचवी अवस्था के उस भाग को व्यक्त करने में होता है जिसमें राज्य का अस्तित्व बना रहता है तथा जिसे सर्वहारा की तानाशाही (Dictatorship of proletariat) के नाम से भी जाना जाता है। तीसरा संदर्भ 1870 के पश्चात् के विचारकों जैसे बर्नस्टीन (Bernstein) का है जिन्होंने मार्क्सवाद या साम्यवाद की अतिवादी धारणाओं को हटाकर उदारतावादी रवैया अपनाया। वर्तमान संदर्भ में समाजवाद से प्रायः यही अर्थ लिया जाता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि समाजवाद एक सुविचारित अवधारणा नहीं है। सुप्रसिद्ध विचारक जोड के अनुसार "समाजवाद उस टोपी की भाँति है जिसका अपना निश्चित आकार नष्ट हो गया है, क्योंकि इसे प्रत्येक व्यक्ति धारण करता है।"

समाजवाद का दर्शन

सामान्य तौर पर समाजवाद को हम उसी अर्थ में ग्रहण करते हैं जिस अर्थ में वह मार्क्सवाद का उदार संस्करण है। इसकी प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं -

1. यह आवश्यक नहीं है कि पूंजीवाद को हिंसा के रास्ते से ही विनष्ट किया जा सकता है। पूंजीवाद की प्रकृति बिना हिंसक क्रांति के बदली जा सकती है। ऐसा कल्याणकारी राज्य (welfare state) की स्थापना के माध्यम से किया जा सकता है तथा किसी कल्याणकारी राज्य की स्थापना प्रजातांत्रिक (Democratic) माध्यम से की जा सकती है। इस प्रकार, अहिंसक राजनीतिक परिवर्तनों के माध्यम से भी वंचितों तथा शोषितों की दशा सुधारी जा सकती है।
2. समाजवाद के अनुसार, उत्पादन के प्रमुख साधनों का राष्ट्रीयकरण (Nationalisation) कर देना चाहिये किंतु उत्पादन के लघु तथा सीमित साधनों को व्यक्तिगत प्रयासों (Private initiative) के लिये छोड़ देना चाहिये। इसका अर्थ है कि ऐसे उत्पादक-साधन जो राज्य को प्रभावित कर सकते हैं या राज्य की अर्थव्यवस्था पर दूरगामी प्रभाव उत्पन्न कर सकते हैं, उन साधनों पर राज्य का नियंत्रण होना चाहिये तथा ऐसे उत्पादक-साधन जो कि सहयोगी साधन हैं, उन पर राज्य का नियन्त्रण नहीं होना चाहिये। ऐसे संसाधनों को व्यक्ति विशेष के माध्यम से विकसित किया जाना चाहिये।
3. समाजवाद यह मानता है कि वस्तुओं के वितरण के स्तर पर राज्य को मिश्रित व्यवस्था अपनानी चाहिये। ऐसी वस्तुएँ जो कि मानव की मूलभूत आवश्यकताओं के अंतर्गत आती हैं, उनका वितरण राज्य को करना चाहिये या उनका वितरण राज्य के नियंत्रण में होना चाहिये तथा ऐसी वस्तुएँ जो कि मानव की मूलभूत आवश्यकताओं की वस्तुओं की सहयोगी भूमिका में होती हैं, उनका वितरण व्यक्तिगत स्तर पर होना चाहिये।
4. समाजवाद राज्य के अस्तित्व का पक्षधर है क्योंकि इसकी मान्यता है कि राज्य केवल शोषण का माध्यम नहीं हैं, राज्य के माध्यम से ही लोककल्याण का संधान किया जा सकता है तथा राज्य के माध्यम से

Copyright– Drishti The Vision Foundation

मार्क्सवाद *(Marxism)*

मार्क्सवादी की मूलभूत अवधारणाएँ *(Salient Concepts of Marxism)*

द्वंद्वात्मक भौतिकवाद *(Dialectic Materialism)*

द्वंद्वात्मक भौतिकवाद मार्क्सवाद की तत्त्वमीमांसा है। इसकी व्याख्या मार्क्स की दो पुस्तकों 'The German Ideology' तथा 'The Poverty of Philosophy' में मिलती है। इस सिद्धांत के माध्यम से मार्क्स ने जगत तथा जगत के नियमों की व्याख्या की है।

'द्वंद्वात्मक भौतिकवाद' भौतिकवादी तत्त्वमीमांसा का उदाहरण है जिसका स्पष्ट अर्थ है कि वह भौतिक तत्त्व को ही अंतिम सत्ता मानता है। सभी पारलौकिक धारणाओं का खंडन वह स्वाभाविक रूप से करता है। मार्क्स से पहले न्यूटन और लुडविग फायरबाख भौतिकवाद को स्वीकार चुके थे। मार्क्स ने उससे प्रेरणा तो ली किंतु भौतिकवाद को पूर्ण स्तर तक उसी ने पहुँचाया। 'द्वंद्वात्मकता' का नियम मार्क्स ने हीगेल से प्रभावित होकर लिया जिसका अर्थ है कि कोई भी विकास परस्पर विरोधी तत्त्वों के संघर्ष के माध्यम से होता है। हीगेल प्रत्ययवादी दार्शनिक था। इसलिये उसने द्वंद्वात्मक विधि का प्रयोग चेतना के स्तर पर किया और माना कि चेतना के द्वंद्वों से भौतिक स्थितियाँ निर्धारित होती हैं। मार्क्स ने द्वंद्वात्मक विधि को भौतिकवाद से जोड़ दिया और दावा किया कि भौतिक जगत की हर वस्तु में द्वंद्व होता है और इन भौतिक द्वंद्वों से ही चेतना निर्धारित होती है। इसी संदर्भ में मार्क्स ने कहा है कि "मैंने हीगेल को सिर के बल खड़ा पाया, इसलिये मैंने उसे सीधा कर दिया।"

द्वंद्वात्मक भौतिकवाद की प्रमुख मान्यताएँ इस प्रकार हैं–

1. इस सिद्धांत के अनुसार यह जगत या ब्रह्मांड ही अंतिम सत्ता है, इसके कारण के रूप में ईश्वर जैसी काल्पनिक सत्ता को मानना भ्रामक है। फायरबाख के प्रक्षेप सिद्धांत (Projection Theory) से प्रभावित होकर मार्क्स ने दावा किया कि ईश्वर सहित सभी अलौकिक विश्वास मनुष्य की कल्पनाओं के ही प्रक्षेपण हैं।
2. प्रकृति एक जटिल तथा परस्पर सुसंबद्ध व्यवस्था है। प्रकृति का हर अंग अन्य अंगों से जुड़ा हुआ है और सभी अंग मिलकर समग्र व्यवस्था का निर्माण करते हैं।
3. प्रकृति सतत् परिवर्तनशील है। जगत में कोई भी वस्तु नित्य या शाश्वत नहीं है। यदि कुछ नित्य है तो वह परिवर्तन ही है।
4. जगत की प्रत्येक भौतिक वस्तु में दो विरोधी पक्ष साथ-साथ उपस्थित होते हैं। उदाहरण के लिये, चुंबक को हम चाहे जितना भी तोड़ते जाएँ, उसमें उत्तरी तथा दक्षिणी ध्रुवों की उपस्थिति बनी ही रहती है। विरोधी तत्त्वों के साथ-साथ होने से द्वंद्व की स्थिति बनती है। इस नियम को मार्क्स ने 'विरोधी तत्त्वों की एकता तथा द्वंद्व का नियम' (Law of Unity and Struggle of Opposites) कहा है।
5. प्रत्येक वस्तु में निहित इस अंतर्विरोध के कारण द्वंद्व होता है। यह द्वंद्व वाद (Thesis), प्रतिवाद (Anti-Thesis) और संवाद (Synthesis) की प्रक्रिया में गतिशील होता है। यह प्रक्रिया मार्क्स ने हीगेल से ली और इसे भौतिकवाद से जोड़ दिया। वाद और प्रतिवाद के संघर्ष में अंततः एक समझौते की स्थिति आती है जिसे संवाद कहते हैं। संवाद में संघर्ष समाप्त नहीं, सिर्फ स्थगित होता है क्योंकि कुछ समय के बाद संवाद स्वयं वाद बन जाता है और यह प्रक्रिया पुनः शुरू हो जाती है।

Copyright– Drishti The Vision Foundation

मानववाद *(Humanism)*

परिचय

जैसा कि मानववाद नाम से ही स्पष्ट है, यह वह दर्शन है जिसमें मानव तथा उसकी समस्याओं के विवेचन को केंद्र में रखा जाता है यद्यपि समकालीन मानववाद सिद्धांतत: तथा घोषित रूप से धर्म तथा परलोक जैसी धारणाओं के खिलाफ है, किंतु मानव केंद्रित विचारों की परंपरा बहुत पुरानी है। अत: मानववाद एक विकासशील दार्शनिक वैचारिक परंपरा है, जिसका प्रारंभ मानव को केंद्र में लाने से हुआ और वर्तमान तक आते-आते उसने एकमत से मानवेतर पारलौकिक जगत् का निषेध करना भी अपने सिद्धांतों में शामिल कर लिया। मानववाद में मानवीय जीवन, मानव की गरिमा और मानव हित को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। इस प्रकार चिंतन की कोई भी विधी, प्रणाली या क्रिया जिसका संबंध मानव हित से हो मानववाद कहलाता है।

ऐतिहासिक विकास

मानववाद के सामान्य रूप से दो भाग किये जा सकते हैं - **'धर्मसंगत मानववाद'** (Religious Humanism) और **'धर्मविरोधी मानववाद'** (Anti-religious Humanism)। **'धर्मसंगत मानववाद'** (Religious Humanism) का साधारण अर्थ है- वह मानववाद, जो सामान्य प्रचलित अर्थ में प्रयुक्त धर्म का निषेध नहीं करता हो या भावात्मक रूप से, धर्म पर आधारित होने के कारण ही मानववादी विचार को स्वीकार करता हो। विश्व में ऐसे अनेक धर्म हैं जो मानव के कल्याण की बात करते हैं, जैसे- बौद्ध धर्म, प्रोटैस्टैन्ट धर्म आदि। ये इसी परंपरा में शामिल किये जा सकते हैं।

धर्मविरोधी मानववाद (Anti-religious Humanism) ही समकालीन मानववादी दर्शन का आधार है। इसकी परंपरा का आरंभ प्रौटेगोरस (Protegorus) से हुआ जिनका स्पष्ट कहना था कि ''मानव ही समस्त वस्तुओं का मापदंड है (Man is the Measure of all things)। इनकी धारणा थी कि ''जहाँ तक देवताओं का संबंध है, मेरे पास यह जानने का कोई साधन नहीं है कि उनका अस्तित्व है या नहीं। यह प्रश्न अत्यंत रहस्यपूर्ण तथा हमारा जीवन बहुत थोड़ा है।'' अज्ञेयवादी दार्शनिक (Agnostic Philosopher) होने के कारण प्रौटेगोरस किसी भी अलौकिक सत्ता को अस्वीकार करते थे।

प्रौटेगोरस की भाँति अन्य बहुत से विचारक भी मानववादी विचारधारा का समर्थन करते थे जिन्हें सॉफिस्ट्स (Sofists) कहा जाता था। ये विचारक घूम-घूम कर मानव की मूल समस्याओं पर विचार-विमर्श किया करते थे। इनके अतिरिक्त कई भौतिकवादी विचारक, जैसे- हिराक्लिटस, डेमोक्रिटस, थेल्स आदि भी किसी अलौकिक शक्ति में विश्वास नहीं रखते थे और विशुद्ध भौतिकवादी दृष्टिकोण (Materialistic view) से ही मनुष्य की समस्याओं पर विचार करते थे।

यूरोप का अंधकार-युग (Dark Age) तो मानववादी चिंतन के एकदम विपरीत ईश्वर तथा धर्म पर आधारित आस्थाओं को प्रश्रय देता रहा, किंतु चौदहवीं शताब्दी में यूरोप के पुनर्जागरण के साथ ही मानव ने पुन: स्वतंत्र चिंतन एवं तर्क के महत्त्व को समझना प्रारंभ किया।

पुनर्जागरण काल के पश्चात् कॉपरनिकस, गैलीलियो, न्यूटन, डार्विन आदि महान वैज्ञानिकों के अनुसंधानों के फलस्वरूप यूरोप में जो वैचारिक क्रांति हुई उसने मानववादी दर्शन के लिये आधारभूत परिस्थितियाँ तैयार कीं। डार्विन तथा उनके सहयोगियों ने यह प्रमाणित कर दिया कि अन्य प्राणियों की भाँति मनुष्य का जन्म और विकास भी जैविक प्राकृतिक प्रक्रिया का ही परिणाम है, ईश्वर या किसी अन्य दैवी शक्ति ने उसकी रचना नहीं की। मानव भी उसी प्रकार प्रकृति का एक अंग है जिस प्रकार अन्य सभी प्राणी हैं।

Copyright– Drishti The Vision Foundation

धर्मनिरपेक्षतावाद *(Secularism)*

धर्मनिरपेक्षता की पश्चिमी धारणा *(Western Notion of Secularism)*

'धर्मनिरपेक्षता' अंग्रेज़ी शब्द 'Secularism' का अनुवाद है, जो मूलत: लैटिन शब्द 'Seculam' से बना है। 'Seculam' का अर्थ होता है- इहलोक से संबंधित। अत: शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से 'Secularism' का अर्थ हुआ- वह विचारधारा जो मनुष्य को परलोक की चिंता छोड़कर इहलोक से संबंधित होने की प्रेरणा देती है। इसे धर्मनिरपेक्षता इसलिये कहा जाता है, क्योंकि यह विचारधारा पारंपरिक धर्मों की परलोककेंद्रित (That worldly) मानसिकता का विरोध करती है।

धर्मनिरपेक्षता का उदय

धर्मनिरपेक्षतावाद औपचारिक रूप से 19वीं सदी की विचारधारा है किंतु इसके उभरने की प्रक्रिया पश्चिमी इतिहास में काफी पहले से दिखाई पड़ती है। ग्रीक दर्शन में सोफिस्ट विचारकों तथा डिमोक्रिटस जैसे भौतिकवादियों के दर्शन में धर्म का विरोध साफ नज़र आता है। मध्यकाल में संत एन्सेल्म तथा संत एक्वाइनस ने धर्म के भीतर तार्किक दृष्टिकोण विकसित करने पर बल दिया जो आगे बढ़ते-बढ़ते धर्मनिरपेक्षतावाद का आधार बना। इस विचारधारा के स्पष्ट संकेत 16वीं शताब्दी के राजनीतिक दर्शन में दिखाई देने लगते हैं क्योंकि तब कैथोलिकों और प्रोटेस्टैंटों के हिंसक संघर्षों को रोकने के लिये राज्य को धर्म के प्रभाव से निकालकर सर्वोच्च शक्ति देना ज़रूरी हो गया था। मैकियावली, बोदाँ और हॉब्स इसी काल के विचारक हैं जिन्होंने राज्य को धर्म से निरपेक्ष बनाने की वकालत की। आगे चलकर बेंथम, मिल और मार्क्स जैसे विचारकों ने भी धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण का स्पष्ट प्रतिपादन किया। इसी शृंखला की परिणति के रूप में इंग्लैंड के एक प्रसिद्ध विचारक जॉर्ज जैकब होलिओक ने 1851 ई. में औपचारिक रूप से धर्मनिरपेक्षतावाद की स्थापना की। इस प्रयास में उसके साथ कई अन्य दार्शनिक थे जिनमें चार्ल्स ब्रैडलॉफ सबसे प्रमुख माने जाते हैं।

धर्मनिरपेक्षतावाद की अवधारणा पर तत्कालीन यूरोपीय परिस्थितियों का गहरा प्रभाव दिखाई देता है। यूरोप में लगभग 1000 वर्षों तक मध्यकाल चला जिसमें धर्म के आतंक के कारण सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक विकास नहीं हो सका। इसलिये इस काल को अंधकार काल (Dark Age) कहा जाता है। 14वीं शताब्दी में जब पुनर्जागरण (Renaissance) की शुरुआत हुई तो धीरे-धीरे मनुष्य के महत्त्व में वृद्धि होने लगी। वैयक्तिक स्वतंत्रता (Individual Liberty) की इच्छा ने धर्म में आंतरिक सुधारों का दबाव बनाया जिसके परिणामत: धर्म-सुधार (Reformation) आंदोलन हुआ और उसी की कोख से मार्टिन लूथर तथा जॉन कैल्विन जैसे विचारकों ने प्रोटेस्टैंट धर्म के विभिन्न संप्रदायों को जन्म दिया। प्रोटेस्टैंट संप्रदायों की विचारधारा कैथोलिकों की तुलना में अधिक इहलोक-केंद्रित (This worldly) थी जिसकी चर्चा प्रसिद्ध समाज दार्शनिक मैक्स वेबर ने भी की है। प्रोटेस्टैंट विचारधारा के आधार पर ही वैज्ञानिक और मशीनी क्रांतियाँ हुईं जिससे धीरे-धीरे मनुष्य के सोचने का नज़रिया बदला और वैज्ञानिक मनोवृत्ति (Scientific Temper) का विकास हुआ। इसी के परिणामस्वरूप 19वीं शताब्दी के आरंभ में मानववाद (ऑगस्ट कॉम्ट) तथा मार्क्सवाद (कार्ल मार्क्स) जैसी इहलोकवादी विचारधाराएँ पनपीं और धर्मनिरपेक्षतावाद के विकास के लिये पर्याप्त पृष्ठभूमि बनी।

धर्मनिरपेक्षतावाद की दार्शनिक विशेषताएँ

धर्मनिरपेक्षतावाद आधुनिक काल का एक भौतिकवादी (Materialist) तथा मानववादी (Humanist) दर्शन है जो वैज्ञानिक मनोवृत्ति (Scientific Temper) के आधार पर इहलोक के महत्त्व की स्थापना करता है।

Copyright– Drishti The Vision Foundation

बहुसंस्कृतिवाद *(Multiculturalism)*

बहुसंस्कृतिवाद (Multiculturalism) या सांस्कृतिक बहुलवाद (Cultural Pluralism) वह विचार है जिसके अनुसार एक ही समाज में विभिन्न सांस्कृतिक समूहों को अपना वैविध्य बनाए रखते हुए साथ-साथ रहने का मौका मिलना चाहिये। विल काइम्लिका (Will Kymlicka) जैसे बहुसंस्कृतिवाद के समर्थकों ने माना है कि भारतीय समाज में यह प्रवृत्ति प्राचीन काल से रही है किंतु पश्चिमी समाज के लिये यह नया विचार है जो 20वीं शताब्दी में ही विकसित हुआ है।

20वीं सदी के आरंभ में अर्थक्रियावाद (Pragmatism) के समर्थकों विलियम जेम्स, जॉन ड्यूवी तथा चार्ल्स सेंडर्स पीयर्स जैसे विचारकों ने बहुसंस्कृतिवाद (Multiculturalism) की पृष्ठभूमि का निर्माण किया। जेम्स ने 1909 ई. में एक प्रसिद्ध पुस्तक लिखी 'Pluralistic Universe'। इस पुस्तक में उसने प्रथम बार 'बहुलवादी समाज' की धारणा स्पष्ट की। जार्ज सांटायना ने भी ऐसे ही विचारों का समर्थन किया।

लगभग इसी समय मानवशास्त्र (Anthropology) का तीव्र विकास हुआ जिसमें संस्कृति के अध्ययन से संबंधित नए-नए दृष्टिकोण उभरने लगे। एक दृष्टिकोण था 'स्वजातिकेंद्रवाद' (Ethnocentrism) जिसमें अध्ययनकर्त्ता अपनी संस्कृति को बेहतर मानकर उसके मूल्यों के आधार पर अन्य संस्कृतियों का मूल्यांकन करता था। इसका विरोधी दृष्टिकोण था 'परजातिकेंद्रवाद' (Xenocentricism) अर्थात् अन्य संस्कृति को बेहतर मानकर उसके दृष्टिकोण से अपनी संस्कृति का मूल्यांकन करना। धीरे-धीरे यह पाया गया कि ये दोनों दृष्टिकोण पूर्वाग्रहों पर आधारित हैं। यहाँ आकर एक नया दृष्टिकोण सांस्कृतिक सापेक्षवाद (Cultural Relativism) विकसित हुआ। इसमें माना गया कि हर संस्कृति अपने दृष्टिकोण से श्रेष्ठ होती है। उसका मूल्यांकन उसी के दृष्टिकोण से किया जाना चाहिये। इस दृष्टिकोण से यह विचार स्थापित हुआ कि विभिन्न संस्कृतियों में ऊँच-नीच का स्तरण नहीं है बल्कि सभी संस्कृतियाँ एक ही स्तर की हैं। यही दोनों वैचारिक आधार बहुसंस्कृतिवाद (Multiculturalism) की पृष्ठभूमि बने।

संस्कृतियों के पारस्परिक संबंध *(Relations among Cultures)*

यदि किसी स्थान पर एक से अधिक संस्कृतियाँ साथ-साथ रहती हैं तो उनके पारस्परिक संबंध तीन प्रकार के हो सकते हैं:

(क) एकसंस्कृतिवाद (Monoculturalism): यह वह विचारधारा है जो एक संस्कृति को बाकी सभी से श्रेष्ठ मानती है व सांस्कृतिक वैविध्य की जगह समरूपता (Homogenity) पर बल देती है। इसकी स्पष्ट धारणा है कि अल्पसंख्यक सांस्कृतिक समूहों को अपनी पृथक् पहचान छोड़कर बहुसंख्यकों की संस्कृति में आत्मसात् (Assimilate) हो जाना चाहिये। पश्चिम में 19वीं सदी तक प्रायः यही विचारधारा दिखती है क्योंकि मध्यकाल में विभिन्न धर्मों में श्रेष्ठता का संघर्ष चलता रहा तो 19वीं सदी में राष्ट्र-राज्य की धारणा इसी विचार को बढ़ाती रही। राष्ट्र-राज्य की धारणा में माना गया कि एक सांस्कृतिक समूह के लोग ही एक राष्ट्र बन सकते हैं चाहे इनकी एकता धर्म पर आधारित हो, नस्ल पर या भाषा पर। यह विचार इज़राइल, सऊदी अरब तथा पाकिस्तान जैसे राष्ट्रों में भी दिखाई पड़ता है क्योंकि ये देश सामी धर्मों की विचारधारा में निहित धार्मिक व्यावर्तवाद (Religious Exclusivism) का समर्थन करते हैं। जापान व दक्षिण कोरिया भी एकसंस्कृतिवाद (Monoculturalism) के उदाहरण हैं, क्योंकि इन देशों में मंगोलॉयड नस्ल को राष्ट्रीय एकता का आधार माना गया है व गैर-मंगोलॉयड नस्ल को अशुद्ध (Polluted) माना जाता है।

Copyright– Drishti The Vision Foundation

अपराध *(Crime)*

भ्रष्टाचार *(Corruption)*

भ्रष्टाचार के दो अर्थ लिये जाते हैं– व्यापक तथा संकीर्ण। व्यापक अर्थ में किसी भी ऐसे कृत्य को भ्रष्टाचार कहा जाता है जो अनैतिक आचरण में शामिल किया जाता हो, जैसे- झूठ बोलना, अवैध संबंधों में लिप्त होना आदि। किंतु, राजनीति-दर्शन में भ्रष्टाचार का यह नीतिमीमांसीय अर्थ नहीं, बल्कि एक विशेष पारिभाषिक अर्थ लिया जाता है। इस अर्थ के अनुसार किसी राजकीय कर्मचारी द्वारा निजी स्वार्थ के लिये सत्ता का दुरुपयोग करना या सत्ता का उचित उपयोग न करना भ्रष्टाचार है।

भ्रष्टाचार की समस्या किसी काल विशेष की न होकर सार्वकालिक प्रकृति की है। कुछ मनोवैज्ञानिकों के अनुसार यह मनुष्य की मूल पाशविक प्रवृत्तियों की ही उपज है जबकि कुछ अन्य के अनुसार इसका उद्‌भव समाज के उद्‌भव के साथ हुआ जब विभिन्न व्यक्तियों ने सामाजिक संसाधनों पर कब्ज़े की होड़ शुरू कर दी। बहुत से प्राचीन ग्रंथों में भ्रष्टाचार के संकेत मिलते हैं। प्लेटो ने कहा था कि यदि "राज्य वासना के प्रतिनिधि 'उत्पादक वर्ग' के हाथ में आ जाएगा तो शासन भ्रष्ट हो जाएगा, अतः दार्शनिक राजा का होना ज़रूरी है।" इस विचार में भ्रष्टाचार की चिंता साफ दिखाई पड़ती है। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में बेहद साफ शब्दों में भ्रष्टाचार की चर्चा की है और इसके विभिन्न प्रकार भी बताए हैं। हज़रत मूसा ने 'ओल्ड टेस्टामेंट' में जो 'दस आदेश' संकलित किये हैं, उनमें से भी कुछ भ्रष्टाचार का संकेत करते हैं, जैसे- 'पड़ोसी के विरुद्ध झूठी गवाही मत दो' इत्यादि। कालिदास की प्रसिद्ध रचना 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में भी एक राजकीय कर्मचारी के भ्रष्ट आचरण के माध्यम से ही दुष्यन्त और शकुन्तला की कथा सुखात्मक अंत की ओर बढ़ती है। मध्यकाल में अकबर जैसे राजा वेश बदलकर अपने ही कर्मचारियों का निरीक्षण करते थे। ब्रिटिश शासन तो भ्रष्टाचार का उच्चतम उदाहरण माना जाता है। विशेषतः क्लाइव और वारेन हेस्टिंग्स दो ऐसे व्यक्ति हैं जिन पर आरोप भी लगा कि उन्होंने सत्ता का दुरुपयोग करके अकूत संपदा इकट्ठी की।

बहुत से राजनीति-दार्शनिकों ने भ्रष्टाचार का राजनीतिक विवेचन भी किया है। 'सदरलैंड' ने अपनी विश्व विख्यात पुस्तक 'व्हाइट कॉलर क्राइम' में उच्च वर्ग के अपराधों में भ्रष्टाचार को शामिल किया है। कई उदारवादी तथा मार्क्सवादी चिंतकों ने भी इस पर विचार किया है। उदारवादी इसे मनुष्य की मूल प्रकृति का परिणाम मानते हैं। उनकी धारणा है कि मनुष्य मूलतः स्वार्थी होता है, इसलिये अवसर मिलने पर वह राज्य की शक्ति का दुरुपयोग अपने पक्ष में करता है। मार्क्सवादी इसकी व्याख्या भिन्न नज़रिए से करते हैं। विलियम चैंबलिस तथा फ्रैंक पियर्स ने मार्क्सवादी नज़रिये से भ्रष्टाचार की व्याख्या की है। पियर्स ने अपनी पुस्तक 'क्राइम ऑफ द पॉवरफुल' में दावा किया है कि भ्रष्टाचार का मूल कारण व्यक्ति के व्यक्तित्त्व में नहीं, पूंजीवाद के भीतर छिपा है। पूंजीवादी व्यवस्था में निम्न वर्ग इतना मजबूर होता है कि भ्रष्टाचार उसके लिये ज़रूरी हो जाता है। उच्च वर्ग सारे कानून इस तरह बनाता है कि उसका भ्रष्ट-से-भ्रष्ट आचरण भी कानून की नज़र में गलत नहीं होता। इसके अतिरिक्त, पूंजीवाद का आधारभूत मूल्य है- अधिक-से-अधिक धन-संपदा का संग्रहीकरण। जो समाज व्यक्तिवाद को जन्म देता हो और व्यक्ति की आर्थिक स्थिति को सबसे महत्त्वपूर्ण मानता हो, वहाँ सांस्कृतिक मूल्य स्वयं भ्रष्टाचार पैदा करने लगते हैं। मनुष्य तो मूलतः अच्छा है, वह समाज के काम भी करना चाहता है किंतु गलत राजनीतिक व्यवस्थाएँ उसे उसकी मूल प्रकृति से अलग करके भ्रष्टाचार में लिप्त कर देती हैं। अराजकतावादियों ने भी लगभग ऐसी व्याख्या स्वीकार की है। वे मानते हैं कि राज्य का अस्तित्त्व ही भ्रष्टाचार के लिये उत्तरदायी है।

Copyright– Drishti The Vision Foundation

दंड के सिद्धांत *(Theories of Punishment)*

दंड किसी किये गए अपराध की सज़ा है। जब हम किसी नियम का उल्लंघन करते हैं तो जो हमें शारीरिक एवं मानसिक पीड़ा दी जाती है वही दंड है। दंड का सिद्धांत उचित और अनुचित के विचार पर टिका होता है। दंड सभी लोगों पर शासन करता है तथा सभी लोगों का परिरक्षण करता है। दंड के शासन से अभिप्राय राज्य में विधि/कानून की सर्वोच्चता है। राज्य की सीमाओं के अंतर्गत मनुष्यों पर विधि के नियमों तथा सिद्धांतों के आधार पर शासन करने का एक रूप है। सामाजिक-राजनीतिक दर्शन में न्याय की आदर्श की प्राप्ति हेतु सुचारु शासन व्यवस्था से स्थापित करने हेतु दंड व्यवस्था का होना अवश्य है। दंड की व्यवस्था राज्य की अंतरिक संप्रभुता का द्योतक है और एक संदर्भ में राज्य की संप्रभुता को साकारित करने का एक रूप है। राज्य के प्रत्येक क्षेत्र में शांति एवं सुरक्षा दंड के भय के द्वारा ही स्थापित हो सकती है। व्यक्ति दंड के भय से अवैधानिक, असामाजिक कार्यों को करने से बचता है इस प्रकार दंड प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से लोगों का परिरक्षण करता है।

विभिन्न राजनीतिक व्यवस्थाओं में दंड की विभिन्न प्रणालियाँ प्रचलित हैं जो राजनीति दर्शन में विचारित दंड की प्रमुख संकल्पनाओं पर आधरित हैं। दंड के संबंध में मुख्यत: आदर्शवादी (Idealist), अराजकतावादी (Anarchist), मार्क्सवादी (Marxist) तथा उपयोगितावादी (Utilitarian) विचारकों ने चिंतन किया है व अपने वैचारिक आधारों पर दंड के औचित्य, दंड की मात्रा जैसे प्रश्नों का समाधान किया है।

प्रमुख रूप से दंड के तीन सिद्धांत माने जाते हैं– प्रतिशोधात्मक, निवारक तथा सुधारात्मक।

प्रतिशोधात्मक सिद्धांत *(Retributive Theory)*

प्रतिशोधात्मक सिद्धांत दंड के प्राचीनतम सिद्धांतों में से एक है। इसका सरलतम अर्थ यही है कि अपराधी से अपराध का बदला लिया जाना चाहिये। इसे दंड का परिणामनिरपेक्षवादी (De-ontological) सिद्धांत भी कहते हैं, क्योंकि इसके अंतर्गत दंड का उद्देश्य किसी अन्य लक्ष्य की उपलब्धि करना नहीं होता बल्कि दंड देना अपने आप में ही उद्देश्य होता है।

प्रतिशोधात्मक सिद्धांत का समर्थन मुख्यत: आदर्शवादी (Idealist) विचारक करते हैं, जैसे- अरस्तू, कांट, हीगेल, ब्रैडले व बोसांके जैसे दार्शनिकों ने इसका समर्थन किया है। आदर्शवादियों की मान्यता है कि दंड इसलिये दिया जाना चाहिये क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपने कार्यों के लिये स्वयं ज़िम्मेदार होता है। यदि उसने कोई गलत कार्य किया है तो इसमें निहित है कि वह उस गलत कार्य के परिणाम का हकदार है। यह तर्क मुख्यत: कांट ने प्रस्तुत किया है। ब्रैडले ने भी इसी तर्क को स्पष्ट करते हुए कहा है कि ''हम दंड इसलिये भुगतते हैं क्योंकि हम इसके पात्र हैं। इसका कोई दूसरा कारण नहीं है।'' भारतीय दार्शनिकों में कौटिल्य ने भी इसका समर्थन किया है।

प्राचीन काल के बहुत से धर्मग्रंथों में भी प्रतिशोधात्मक सिद्धांत का समर्थन मिलता है। उदाहरण के तौर पर, यहूदियों के धर्मग्रंथ 'Old Testament' में स्पष्ट रूप से कहा गया है- 'आँख के बदले आँख, दाँत के बदले दाँत'। भारतीय दर्शन के अधिकांश संप्रदाय 'कर्म सिद्धांत' के समर्थक हैं। कर्म सिद्धांत भी इसी मान्यता पर टिका है कि व्यक्ति को अपने कर्मों के बराबर फल भुगतना पड़ता है। इस्लाम के शरीयत कानून तथा हम्मूराबी की संहिता में भी प्रतिशोधात्मक सिद्धांत का समर्थन किया गया है।

उपयोगितावादी दार्शनिक सामान्यत: प्रतिशोधात्मक सिद्धांत के समर्थक नहीं हैं क्योंकि वे दंड की व्याख्या परिणामसापेक्षवादी (Teleological) आधार पर करना चाहते हैं व इसकी कसौटी है- अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख। किंतु, बेंथम ने अपने दंड के व्यापक सिद्धांत के अंतर्गत सीमित रूप से प्रतिशोध सिद्धांत को

Copyright– Drishti The Vision Foundation

जाति भेद *(Caste Discrimination)*

जब किसी व्यक्ति या अन्य किसी चीज के पक्ष में या उसके व्यक्तिगत गुणों-अवगुणों को न देखते हुए, उसके किसी वर्ग, श्रेणी या समूह के सदस्य होने के आधार पर अंतर करने की प्रक्रिया को, विभेदन, भेदभाव या भेद (Discrimination) कहते है। जब यही मनोवृत्ति किसी जाति विशेष के संदर्भ में लागू की जाती है तो जाति भेद (Caste Discrimination) कहलाती है। गांधी और अंबेडकर दोनों भारतीय समाज के जातिगत भेदभाव के नकारात्मक मनोवृत्ति से अच्छी तरह परिचित और अत: गांधी एवं अंबेडकर दोनों ही जातिगत भेद-भाव को समाप्त करना चाहते हैं। दोनों अस्पृश्यों थे। शुद्र-दलितों की समस्या को समाप्त करना चाहते थे, परंतु इस समस्या के कारण, स्वरूप और निदान के प्रति दोनों का दृष्टिकोण और कार्य-पद्धति अलग-अलग है। परिणामस्वरूप दोनों में समस्या के समाधान के प्रति एक वैचारिक असहमति सदैव बनी रही तथा दोनों ही समस्याओं के समाधान के प्रति अलग-अलग मार्ग प्रस्तुत करते हैं। इस क्रम में गांधी और अंबेडकर ने वर्ण व्यवस्था के संबंध में अपने-अपने विचार प्रस्तुत किये हैं।

महात्मा गांधी के जाति संबंधी विचार *(Caste Related Thoughts of Mahatma Gandhi)*

महात्मा गांधी का जन्म एक हिंदू वैष्णव परिवार में हुआ था। पारिवारिक संस्कारों का उन पर पर्याप्त प्रभाव था, जिसकी गहरी छाप उनके सामाजिक दर्शन पर स्पष्टत: दिखती है। गांधी जी वर्ण व्यवस्था के समर्थक हैं, हालाँकि जाति व्यवस्था और अस्पृश्यता का उन्होंने हमेशा कठोर विरोध किया।

वर्ण व्यवस्था संबंधी विचार

गांधी जी ने अपनी कई पुस्तकों तथा लेखों में वर्ण व्यवस्था से संबंधित विचार प्रस्तुत किये हैं जिनमें सबसे महत्त्वपूर्ण है उनकी पुस्तक- 'हिंदू धर्म'। उनके प्रमुख विचार इस प्रकार हैं-

1. वे बताते हैं कि वर्ण व्यवस्था मनुष्य द्वारा निर्मित नहीं बल्कि प्राकृतिक या ईश्वरीय व्यवस्था है। वे लिखते हैं- ''यह मानवीय आविष्कार नहीं, अपितु प्रकृति का अपरिवर्तनीय नियम है जो न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण के नियम के समान सर्वत्र विद्यमान तथा सदैव क्रियाशील रहता है।'' उन्होंने यह भी कहा है कि वर्ण व्यवस्था सिर्फ भारत के लिये आदर्श नहीं है बल्कि सार्वभौमिक व्यवस्था है जो विश्व के सभी मनुष्यों की समस्याओं का समाधान कर सकती है।
2. गांधी जी के अनुसार वर्ण व्यवस्था हिंदू धर्म का अनिवार्य अंग है, वैकल्पिक नहीं। यदि कोई व्यक्ति वर्ण व्यवस्था को नहीं मानता है तो उसे हिंदू मानना उनके लिये संभव नहीं है। वे लिखते हैं- ''कुरान को न मानकर कोई मनुष्य मुसलमान और बाइबिल को न मानकर कोई मनुष्य ईसाई कैसे रह सकता है? xxxx मैं नहीं जानता कि जो व्यक्ति जाति भेद अर्थात् वर्ण को नहीं मानता, वह अपने को हिंदू कैसे कह सकता है?''
3. गांधी जी के अनुसार वर्ण व्यवस्था श्रम विभाजन की प्रणाली है जो समाज में श्रम की ज़रूरत और श्रम की उपलब्धता में समन्वय करती है। उनके अनुसार वर्ण व्यवस्था का मतलब सिर्फ इतना है कि ''हम जीविकोपार्जन के लिये उन पैतृक व्यवसाओं का अनुसरण करें जो हमारे पूर्वज करते रहे हैं।''

Copyright– Drishti The Vision Foundation